

भारतीय चित्रकला में भावाभिव्यंजना

डॉ. अनुराधा आर्य
एसो० प्रो एवं अध्यक्ष
चित्रकला विभाग
कन्या महाविद्यालय, आर्यसमाज भूड
बरेली

मन के भावों को मूर्तरूप देने की व्यवस्था को विश्व के सभी रचनाकारों ने महत्व दिया है। मात्र प्राणी जगत् ही नहीं वरन् पशु, वनस्पति और प्रकृति की अर्थशून्य वस्तुओं को भी इन रचनाकारों ने भावों से मंडित कर उसकी सार्वभौमिक शाश्वत विद्यमानता को स्वीकार किया है।

वास्तव में भाषा तो एक शुद्ध प्रक्रिया मात्र है। भावों के बिना उसका अस्तित्व संभव ही नहीं। भाव ही भाषा है।¹ कला का प्रतिनिधित्व दो प्रमुख रूपों में होता है— श्रव्य और दृश्य। शब्दों, ध्वनियों व स्वरों द्वारा भावों का संचरण श्रव्य शक्ति एवं रंग व तूलिका आदि द्वारा फलक पर भावों की अभिव्यक्ति दृश्य शक्ति कहलाती है। कल्पना शक्ति द्वारा कलाकार अपने हृदय में उद्भूत भावों को रूपों और आकृतियों में परिणित कर देता है। सत्य विदित है —“कलाकार की अन्तरात्मा में उद्भूत भावना का स्वरूप व्यक्तिगत होते हुए भी जब तक जन सामान्य के हृदय की वस्तु नहीं बनता तब तक उसकी कला को जीवन प्राप्त नहीं होता। उसमें प्राण—प्रतिष्ठा नहीं होती।”²

अनुभूति और अभिव्यक्ति के मध्य चेतनता कलाकार की भाषा को जन्म देती है। अभिव्यक्ति के तत्वों के रूप में कल्पना से भाषा का उद्भूत होता है। यहीं पर रचनाकार की भाषा मूल रूप ग्रहण करती है और मूलरूप में यह कल्पनात्मक एवं अभिव्यक्तात्मक है। अतः यह स्पष्ट है कि भाषा एक कलात्मक वस्तु है, जिसका कार्य अभिव्यक्ति करना है। “इस भाषा के द्वारा भावों की जो अभिव्यक्ति होती है उस पर इन भावों के साथ चलने वाली भावनाओं का प्रभाव पड़ता है।”³

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार ‘रस’ कला का शुद्ध स्वरूप है जिसके द्वारा सौन्दर्यात्मक भावनाओं का रसास्वादन किया जाता है। ‘भावयति इति भाव’ भरत मुनि की सुप्रसिद्ध उक्ति है। अर्थात् भाव वही है जिसका भावन हो। भाव से ही रस की अनुभूति होती है।⁴

“विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगद्रस निष्पत्ति” रस—सूत्र द्वारा भरतमुनि ने स्पष्ट किया है कि विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन), अनुभाव (आंगिक, वाचिक और सात्विक) तथा व्यभिचारी (तैत्तिंस) भावों के संयोग से आश्रय के हृदय में रस की निष्पत्ति होती है। भावों को मुख्यतः दो भागों —स्थायी तथा संचारी या व्यभिचारी में बाँटते हुए भरतमुनि का कथन है कि रस का आधार स्थायी भाव है जो सहृदयों में वासना या संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं। इनकी संख्या आठ

है – रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय। इनमें सम्बन्धित रस संख्या भी आठ है।

कला में अभिव्यंजना प्रधान होती है और अभिव्यंजना भाव का आवश्यक गुण है। कलात्मक, वस्तुगत तथा सौन्दर्य बोधात्मक अभिव्यंजना मिलकर अभिव्यंजना त्रिकोण का निर्माण करते हैं। संक्षेप में अभिव्यंजना का तात्पर्य अभिव्यंजित अर्थात् आंतरिक को बहिर्गत बनाना है।⁵ यह तो पूर्व में ही स्पष्ट है कि भावों की अभिव्यंजना हेतु कला अपनी भाषा (माध्यम, शैली व तकनीक) का प्रयोग करती है। वाचस्पति गैरोला भावाभिव्यंजना के दो रूप प्रकट और प्रच्छन्न बताते हैं। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर पंडित भी चित्र में प्राण प्रतिष्ठा हेतु षडांगों—रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्ययोजना, सादृश्य तथा वर्णिक—भंग को आवश्यक मानते हैं।

चित्र में अभिव्यंजना की व्याख्या करते हुए डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा ने तीन तत्वों का उल्लेख किया है –“रूप, भोग, अभिव्यक्ति।”⁶ यहाँ भोग कलाकृति में प्रयोग होने वाले कला तत्व माध्यम तथा तकनीक हैं। विभिन्न कला तत्वों, माध्यमों तथा तकनीकों द्वारा सृजित आकार रूप है तथा उस रूप का अर्थसार या विषय—वस्तु अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चित्र में विषय—वस्तु के आधार पर ही भावाभिव्यंजना होती है परन्तु चित्र निर्माण में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वाले कला तत्वों, माध्यमों, तकनीकों, भावों, प्रतीकों तथा अन्य उपादानों का पूर्ण योगदान होता है।

प्रस्तुत शोध—पत्र में चित्रकला में भावाभिव्यंजना की व्याख्या निम्न कला—तत्वों के आधार पर की गयी है – रेखा, रूप, वर्ण, तान, पोत, अन्तराल, अलंकरण, सादृश्य एवं प्रतीक।

1. रेखा : कला तत्वों में सर्वोपरि रेखा से ही रूप निर्मित होता है। यह अभिव्यक्ति का प्राचीनतम माध्यम तथा कलात्मक अनुभूति का मूल स्रोत रही है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार “लेखासु ही में प्राणा”⁷ अर्थात् रेखा चित्र में अपने प्राण छोड़ गयी। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार “रेखा चित्र का मूल उपादान है।”⁸

गतिशीलता और दिशा—निर्देशन की शक्ति से आलोकित रेखा एक ओर रूपाकृति को आधार प्रदान करती है तो दूसरी ओर अनेक मनोभावों को उत्पन्न करती है। हरवर्ट रीड के शब्दों में “रेखा चित्रगत आशुलिपि है, जो कम से कम प्रयासों में बहुत कुछ से प्रेषित कर सकती है।”⁹

रेखायें खड़ी, पड़ी, तिरछी, सरल, वक्र अनेक प्रकार की होती हैं, जो भिन्न—भिन्न मनोवैज्ञानिक प्रभाव को व्यक्त करती हैं परन्तु उन्हें मुख्यतः दो वर्गों में बाँटा गया है – सीधी रेखा व वक्र रेखा। हल्की या पतली रेखायें दूरी, अस्पष्टता व कोमलता के साथ सुन्दरता की भी द्योतक होती हैं। गहरी व मोटी रेखायें निकटता, स्पष्टता, सजीवता, कठोरता, शक्ति व दृढ़ता का बोध कराती हैं।

2. रूप : अंगों का संतुलित और लयात्मक विन्यास रूप अखण्ड और कला में प्राण तत्व है। इसकी चाक्षुष सत्ता है। यह रूप में विभिन्नता, रूप का मर्मभेद अथवा रहस्योद्घाटन भी है। इसमें छः तत्वों की समाहिती है –रेखा, आकार, आकृति, वर्ण, पोत व अन्तराल। ये सभी तत्व

मिलकर उसमें अन्तर्निहित भाव की व्यंजना करते हैं । इस प्रकार रूप चाक्षुष बिम्ब ही नहीं अपितु भाव भी है ।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार "अंग-भंगिमा का अर्थ है अभिव्यंजक गति।"¹⁰ अभिव्यंजक अंग-भंगिमा संवेग व भावों का प्रकाशन करती है। चित्रसूत्र में नृत्य को परम चित्र कहा गया है क्योंकि नृत्य में ही शारीरिक मुद्राओं के सर्वाधिक और स्पष्ट दर्शन होते हैं। प्रस्तुत खण्ड में विभिन्न शारीरिक भंगिमाओं व मुद्राओं को निम्न चार भागों में बाँट कर व्याख्या करना समीचीन होगा –

अ- शारीरिक भंगिमा

ब- नेत्र भंगिमा

स- हस्त-मुद्रा

द- पाद-मुद्रा

अ- शारीरिक भंगिमा : मानसिक स्थिति से प्रभावित मानव शरीर की विभिन्न शारीरिक भंगिमाओं को समरांगण सूत्रधार, मानसोल्लास, शिल्परत्न तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण में निम्नवत नौ प्रकार का बतलाया गया है-

1. श्रृज्वागतम् –शरीर के अंग-प्रत्यंग का पूर्ण अंकन ।
2. अनृजु – प्रथम का विपरीत ।
3. सांचीकृत – झुका हुआ ।
4. अर्धविलोचनम् – चेहरे के अर्धभाग का अंकन ।
5. पार्श्वगतम् – एक तरफ वाला ।
6. परावृतम् मण्डपरावृतम् – जिसमें एक कपोल दिखे ।
7. पृष्ठागतम् – पृष्ठ प्रान्त प्रधान आकृति
8. परिवृतम्- कटि से ऊपर गोलाइ के पास घूमी हुई आकृति ।
9. समानतम् – झुके हुए पूर्ण शरीर की आकृति ।

इनके अतिरिक्त भारतीय कलाचार्यों ने अन्य चार प्रकार की भंगिमाओं का उल्लेख भी किया है –समभंग, अभंग, त्रिभंग, अतिभंग ।

द- नेत्र भंगिमा : मन के भावों को व्यंजित करने हेतु सर्वोपरि माध्यम नेत्र भंगिमायें भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में रसपूर्ण दृष्टि के रूप में जानी जाती हैं। समरांगणसूत्रधार में 18 रस दृष्टियों की व्याख्या की गयी है – शृंगार रस से सम्बन्धित ललिता, दृष्टा, विभ्रमा, संकुचिता, हास्यरस से सम्बन्धित विकसिता, भयानक रस से सम्बन्धित विकृता, विहला, शंकिता, जिह्वा, शांत रस से सम्बन्धित योगिनी, मध्यस्था, स्थिरा, वीर रस से सम्बन्धित दृष्टा तथा करुण रस से सम्बन्धित दीना, विहला व शंकिता दृष्टि ।

चित्रसूत्र में भी पांच प्रकार के नेत्रों का उल्लेख किया गया है –चापाकार, मत्स्योदर, उत्पलपत्र, पद्मपत्र, शराकार। ये नेत्र भंगिमायें क्रमशः योगी, कामी, सात्विक, भयभीत तथा व्यथित भाव की व्यंजक हैं।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी अभिनय के अन्तर्गत दृष्टि के अभिनय को तीन प्रकार से वर्णित किया है – 1. रस-दृष्टियाँ, 2. स्थायी भाव रस दृष्टियाँ तथा 3. संचारी भाव रस दृष्टियाँ। आठ रसों से सम्बन्धित आठ रस दृष्टियाँ –कांत, हास्य, करुण, रौद्री, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रस दृष्टि। आठ स्थायी भावों से सम्बन्धित –स्निग्ध (रति जन्य), हृष्ट (हास्यजन्य), दीन (शोक-जन्य) क्रुद (क्रोध-जन्य), दृष्ट (उत्साह-जन्य), भयान्वित (भय-जन्य), जुगुप्सित (जुगुप्साजन्य), और विस्मित (विस्मय-जन्य) रस-दृष्टि तथा व्यभिचारी भावों से सम्बन्धित बीस दृष्टियाँ बतलाई गयी हैं।

स- हस्त-मुद्रा – हस्तमुद्रायें भवाभिव्यंजना के सफल माध्यम हैं। कोहनी, कलाई व अंगुलियों के विभिन्न मोड़ भावाभिव्यंजना हेतु बोलने की क्षमता रखते हैं। नाट्यशास्त्र, चित्रसूत्र तथा समरांगणसूत्रधार में अनेकों प्रकार की हस्तमुद्राओं की चर्चा की गयी है, जिसे मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा गया है – 1. असंयुत, 2. संयुत, 3. नृतहस्त।

“असंयुत हस्त क्रिया वह है जिसमें अभिनय एक हाथ से किया जाता है। ऐसी क्रियायें 24 मानी जाती हैं। संयुत हस्तक्रिया वह है जिसमें अभिनय दोनों हाथों से किया जाता है। ऐसी क्रियायें तेरह हैं। ये सभी मिलकर सैंतीस अभिनय हस्त हैं। नृत हस्त क्रिया वह है जो प्रायः नृत्य के अन्तर्गत सौन्दर्याधान के लिए किया जाता है। नृत हस्त क्रियायें सत्ताईस मानी गयी हैं।”¹¹

भरतमुनि ने भी नाट्यशास्त्र में नृत्य से सम्बन्धित पाँच प्रकार की हस्त क्रियायें बतलाई हैं –प्रथम हस्त-तल को ऊपर किये उत्ताल हस्त क्रिया, द्वितीय हस्त- तल को नीचे किये अधस्तल हस्त क्रिया, तृतीय तिरछी दिशा में किया गया हाथ तिर्यक, चतुर्थ हस्तांगुलियों के अग्रभाग को ऊर्ध्वमुख किये ऊर्ध्व हस्तक्रिया तथा इसके बिलकुल विपरीत पंचम अधोमुख हस्तक्रिया।

द- पाद मुद्रा – भारतीय चित्रकला में नृत्य की हस्तमुद्राओं की भाँति पाद मुद्राओं का प्रयोग भी भावाभिव्यंजना हेतु दृष्टिगोचर होता है, जिसका संकेत नाट्यशास्त्र तथा चित्रसूत्र में पद की क्रिया के पंचविध रूप में प्राप्त होता है – “उद्घटित, सम, अग्रतलसंचर, अंचित और कुंचित।”¹² नृत्य की पद क्रियाओं के अतिरिक्त पैरों की आकृतियों तथा उनके विभिन्न मोड़ों के आधार पर भी पाद मुद्राओं के भिन्न-भिन्न वर्ग निरूपित हुए हैं –

समायतम- जिसमें दोनों पैर सीधे खड़े हों।

मण्डलम् – जिसमें पैर चक्राकृति में हों।

बैसाख – जिसमें एक पैर सीधा और दूसरा बारह अंगुलि के अन्तर पर चंचल हो।

आलीढ़- जिसमें दाहिना घुटना आगे और बाया पैर पीछे हो।

प्रत्यालीढ – जिसमें बांये पैर का घुटना आगे और दायां पैर पीछे की ओर हटा हुआ हो।

आसन अथवा बैठने की मुद्रा के आधार पर रूपविन्यास भी भारतीय धार्मिक परम्परा का चलन रहा है। चित्रकला में पद्मासन, ललितासन, मुद्रासन, ताण्डवासन, नृत्यासन, उमलिगासन तथा यवायासन आदि पाद मुद्राओं का प्रयोग मुख्य रूप से किया गया है।

3. वर्ण, तान एवं पोत :

मानव जीवन तथा कला जगत में रंगों का एक विशिष्ट स्थान है। भावाभिव्यंजना हेतु कला में प्रयुक्त ये वर्ण अपनी आलौकिक क्षमता से प्रभावित किये बिना रह ही नहीं सकते। रंगों के बिना विश्व की कल्पना शून्य है। षड्गों में छठा अंग वर्णिका भंग कला के इसी तत्व से सम्बन्धित है, जिसका अर्थ है तूलिका की भंगिमा, रंग विधान का ज्ञान तथा रंग प्रयोग। षड्गों के अन्य पांच अंगों का आधार यही है। हरबर्ट रीड के शब्दों में रेखा और रूपाकार की सरलतम व्याख्या करने वाला रंग कलाकृति की जटिलता में एक ओर तत्व जोड़ देता है।¹³

वैदिक साहित्य में रंगों से सम्बद्ध वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक जानकारी का भंडार है। "श्रुग्वेद के स्रोतों में सूर्य को सात शक्तियों (घोड़ों) से संचालित रथ में बैठा हुआ वर्णित किया गया है। ये सात शक्तियाँ किरणों के सात रंगों का प्रतिनिधित्व करती हैं।"¹⁴

वर्णों का चित्र में प्रतीकात्मक महत्व भी है, जो भावाभिव्यंजना में विशेष सहायक होता है। ब्राह्मण ओर सूत्रग्रन्थों में ग्रहों व गुणों के प्रतीक अर्थ में अनेक रंगों का उल्लेख किया गया है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रंगों के अध्ययन में अत्यन्त सहायक हैं। राजसी वृत्ति के गृह-सूर्य और मंगल का रंग लाल, सात्विक वृत्ति के गृह -शुक्र और निशाकर का रंग श्वेत तथा तामसिक वृत्ति के गृह राहू-केतू व शनिचर का रंग काला है।

भारतीय कला चिंतन में रंग मात्र विधानगत महत्व या प्रसाधन के निमित्त प्रयोजन नहीं वरन् कला के चरम लक्ष्य रसोपलब्धि से सम्बद्ध है। "विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा नाट्यशास्त्र में नवरस चित्रों के लिए नौ रस वर्णों का उल्लेख किया गया है।"¹⁵ शृंगार के लिए श्याम, हास्य के लिए श्वेत, करुण के लिए कपोत, रौद्र के लिए लाल, वीर के लिए गौर, भयानक के लिए काला, वीभत्स के लिए नीला तथा अद्भुत के लिए पीत वर्ण की योजना की गयी है।

इन वर्णों के प्रतीकात्मक महत्व के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक महत्व भी है। मानव तंत्रिका तंत्र को सीधे प्रभावित करने वाले रंग भौतिक तथा मानसिक क्रियाओं को तीव्रता से प्रभावित करते हैं। तेज चमकीले रंग भावों की तीव्रता, उग्रता प्रकट करते हैं जबकि हल्के व कोमल रंग भावों के शांत व स्निग्ध रूप के व्यंजक हैं।

4. अंतराल – भाववाभिव्यंजना हेतु रूप को चाक्षुष सत्ता प्रदान करने के लिए प्रयोग की गयी आधारभूत सतह, तल अथवा स्थान जिसका विस्तार द्विआयामी होता है, अंतराल कहलाता है। भारतीय धारणा में अंतराल शून्य है जिसमें न्यूनतम में अधिकतम व्यक्त करने की अपार शक्ति होती है। रूप ही निर्जीव और निष्क्रिय अंतराल में सजीवता और सक्रियता का संचार करता है, अतः रूप व अंतराल दोनों एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।

5. अलंकरण तथा वस्त्राभूषण – अलंकरण षडंगों में चतुर्थ अंग 'लावण्य' रूप को सुरुचिपूर्ण तथा 'भाव' को आलोकित करने वाली एक आत्मगत और आंतरिक उपलब्धि है। यह रूप का बाह्य सौन्दर्य है जो आकर्षण की निरन्तरता को बनाये रखता है। यह अलंकरण या लावण्य चित्रों में एक सुन्दर और सुकुमार बंधन है जो समस्त भाव-भंगिमाओं में शोभायमान होकर चित्र की एक नयनाभिराम और मनोहारी छवि प्रस्तुत करता है।

चित्रों में इस गुण को आलोकित करने में न केवल रूपाकृतियों की भाव भंगिमाओं अपितु उनके द्वारा धारण किये गये वस्त्राभूषण भी सहायक होते हैं। अलंकरण के अन्तर्गत रूपाकृतियों के आस-पास का वातावरण, अग्रभूमि तथा पृष्ठभूमि की व्यवस्था व साज-सज्जा भी सम्मिलित होती है।

6. सादृश्य – कला के षडंगों में से पांचवें अंग सादृश्य का तात्पर्य मात्र प्रतिरूप बनाना ही नहीं अपितु उसमें भावरूपी प्राण प्रतिष्ठा करना है। रूप सादृश्य तो भावों की दीप्ति से ही प्रणान्वित होकर चित्र को सार्थकता प्रदान करता है। इस प्रकार भावाभिव्यंजना हेतु रूप को बाह्य सादृश्य के साथ-साथ भाव-सादृश्य से भी अलंकृत किया जाना आवश्यक है।

7. प्रतीक – अपने अन्तर्तम में गहन गंभीर रहस्यों को छिपाये हुए प्रतीक भावाभिव्यंजना के तत्वों में प्रमुख स्थान रखते हैं। प्रतीक विस्तृत और असीमित भावनाओं और विचारों के विशाल सागर को गागर में भरकर प्रस्तुत करने का एक माध्यम है। भाषा के परे प्रतीक भावनात्मक प्रभाव की अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार विशिष्ट शक्तिशाली भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते प्रतीक मात्र चिन्ह नहीं हैं, जिनका सम्बन्ध विचारों से होता है, अपितु ये अर्थपूर्ण शब्द हैं। ये दोनों एक दूसरे को रूप प्रदान करते हैं।

अंततः सार यही है कि कलारूपी भाषा में गुंथे कलाकारों के चित्रों में भावाभिव्यंजना की प्राण-प्रतिष्ठा हेतु रेखा, रूप, वर्ण, तान, पोत, अंतराल, अलंकरण, सादृश्य और प्रतीक रूपी वर्णमाला का प्रयोग किया जाना परम आवश्यक है, अन्यथा की स्थिति में मन की गहराईयों में गोते लगाकर भावों की आनन्दानुभूति असंभव है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. प्रो० रणवीर सक्सेना : कला, सौन्दर्य और जीवन, पृ० 307.
2. वही। पृ० 306.
3. वही। पृ० 329.
4. राजेन्द्र वाजपेयी : सौन्दर्य : पृ० 154.
5. रमेश कुन्तल मेघ : अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा : पृ० 250.
6. डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा : सौन्दर्यशास्त्र : पृ० 62.
7. डॉ० जगदीश चंद्रिकेय : वैदिक कालीन रूपंकर कलाएँ, पृ० 32.
8. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृ० 122.
9. हरबर्ट रीड : द मीनिंग ऑफ आर्ट, पृ० 52.

10. डॉ० रामलखन शुक्ल : भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का तात्त्विक विवेचन : पृ० 184–190.
11. वही : पृ० 181.
12. वही : पृ० 179.
13. हरबर्ट रीड : द मीनिंग ऑफ आर्ट, पृ० 58.
14. प्रो० रणवीर सक्सेना : कला, सौन्दर्य और जीवन : पृ० 36.
15. डॉ० कुमार विमल : कला, विवेचन : पृ० 101.

